UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180346

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 81.6. Accession No. H 3036.

Author A. 19 A अज्ञेय.

Title अरी ओ करुणा प्रभामय. 1959.

This book should be returned on or before the date last marked below.

अरी ओ करुणा प्रभामय

'अज्ञेय'

पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन, जन्म कसिया, जिला देवरिया, ७ मार्च १९११ (फाल्गुन शुक्ला सप्तमी, संवत् १९६७)। बचपन लखनऊ, कश्मीर, नालन्दा और नीलगिरिमें बीता; शिक्षा मद्रास और लाहौरमें हुई; बी० एस-सी० करके अँग्रेज़ी विषयमें एम० ए० की पढ़ाई करते समय क्रान्तिकारी आन्दोलनके प्रसंगमें फ़रार हुए और १९३० के अन्तमें पकड़े गये; चार वर्ष जेलमें और दो वर्ष नज़रबन्द रहे; किसान आन्दोलनमें भाग लिया; 'सैनिक' 'विशाल भारत' 'बिजली' 'प्रतीक' आदिका सम्पादन किया और अब 'वाक्' (अंग्रेज़ी त्रैमासिक) निकाल रहे हैं। कुछ वर्ष आल इण्डिया रेडियोमें रहे, तीन वर्ष सेनामें (१९४३–४६)। सन् १९५५–५६ में यूरोप गये, सन् ५७–५८ में पूर्वेशिया। पहली कहानी १९२४में छपी, पहली कविता १९२७में।

प्रकाशित रचनाएँ : ● **कविता**—भग्नदूत १९३३,चिन्ता १९४२, इत्यलम् १९४६, हरी घास पर क्षण भर १९४९, बावरा अहेरी १९५४, इन्द्रधनु रौंदे हुए ये १९५७, प्रिज़न डेज़ एंड अदर पोएम्स (अंग्रेज़ीमें) १९४६। ● **कहानियाँ**—विपथगा १९३७, परम्परा १९४४, कोठरीकी बात १९४५, शरणार्थी १९४८, जयदोल १९५१। ● **उपन्यास**—शेखर : एक जीवनी, प्रथम भाग १९४१, द्वितीय भाग १९४४; नदीके द्वीप १९५२। ● **भ्रमण-वृत्तान्त**—अरे यायावर रहेगा याद ? १९५३।

सम्पादित ग्रन्थ—आधुनिक हिन्दी साहित्य (निबन्ध-संग्रह) १९४२, तार सप्तक (कविता-संग्रह) १९४३, दूसरा सप्तक (कविता-संग्रह) १९५१, तीसरा सप्तक (कविता-संग्रह) १९५९, पुष्करिणी (कविता-संग्रह) भाग २, १९५३, पुष्करिणी (कविता-संग्रह) सम्पूर्ण १९५९, नये एकांकी १९५२। संयुक्त रूपसे—हिन्दीकी प्रतिनिधि कहानियाँ १९५२,नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ १९४९। अंग्रेज़ीमें—'इंडिया लायब्रेरी'के अन्तर्गत श्रीकान्त (शरच्चन्द्र चट्टोपाध्यायका अनुवाद) १९४४, द रेज़िग्नेशन (जैनेन्द्रकुमारके त्यागपत्रका अनुवाद) १९४६।

ज्ञानपीठ लोकोदय-ग्रन्थमाला—हिन्दी ग्रन्थाङ्क—९०

अरी ओ करुणा प्रभामय

[सन् १९५६–१९५८ की कविताएँ]

'अज्ञेय'

भारतीय ज्ञानपीठ • काशी

कापीराइट १९५९
लेखककी ओरसे ज्ञानपीठ द्वारा सुरक्षित

ज्ञानपीठ लोकोदय-ग्रन्थमाला-सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन एम० ए०

प्रथम संस्करण : १९५९
मूल्य चार रुपये

प्रकाशक
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी

क्रम-सूची

भूमिका ६

रोपयित्री

१. अच्छा खंडित सत्य ... १५
२. हम कृती नहीं हैं ... १७
३. शब्द और सत्य ... १६
४. नया कवि : आत्म-स्वीकार ... २०
५. बड़ी लम्बी राह ... २२
६. नये कवि से ... २५
७. प्याला : सतहें ... २६
८. इशारे ज़िन्दगी के ... ३२
९. एक प्रश्न ... ३५
१०. लौटे यात्री का वक्तव्य ... ३६
११. चेहरे असंख्य : आँखें असंख्य ... ३६
१२. हरा-भरा है देश ... ४१
१३. बाँगर और खादर ... ४३
१४. औद्योगिक बस्ती ... ४५
१५. बिकाऊ ... ४६
१६. मैंने कहा, पेड़— ... ४८
१७. नया कवि : आत्मोपदेश ... ५०
१८. रोपयित्री ... ५३

रूप-केकी

१९. रूप-केकी ... ५७
२०. ऋतुराज ... ५८
२१. यह कली ... ६०

२२. रात में गाँव ... ६१
२३. धूप ... ६२
२४. वसन्त ... ६३
२५. पहाड़ी यात्रा ... ६४
२६. पगडंडी ... ६५
२७. घनी धुन्ध से छाया ... ६६
२८. पूनो की साँझ ... ६७
२९. सान्ध्य तारा ... ६८
३०. एक चित्र ... ६९
३१. अंगूर बेल ... ७०
३२. नदी-तट : एक चित्र ... ७१
३३. आँखें—१ ... ७२
३४. आँखें—२ ... ७३
३५. प्यार : व्यक्त ... ७४
३६. प्यार : अव्यक्त ... ७५
३७. चिड़िया की कहानी ... ७६
३८. चुप-चाप ... ७७
३९. सुख-क्षण ... ७८
४०. क्या हमीं रहे ? ... ७९
४१. हे अमिताभ ... ८०
४२. धरा-व्योम ... ८१
४३. सोन-मछली ... ८२
४४. दीप पत्थर का ... ८३
४५. साम्राज्ञी का नैवेद्य-दान ... ८४
४६. खिड़की एकाएक खुली ... ८६
४७. पहेली ... ८७
४८. मैं देख रहा हूँ ... ८८
४९. मछलियाँ ... ८९
५०. उन्मत्त ... ९०
५१. जीवन-छाया ... ९१
५२. रश्मि-बाण ... ९२

एक चीड़ का खाका

५३. जापानी चित्र	(हाइकू से प्रभावित)	९९
५४. शिशिर-वसन्त	(टोकोकू, जूगो, यासुई, बाशो)	१००
५५. अरी हवा, अब	(हाइकू से प्रभावित)	१०१
५६. सरसों फूली	(बूसोन्)	१०२
५७. अलूचे फूले	(रीटो) ...	१०३
५८. वसन्त का सूर्यास्त	(टांटान्) ...	१०४
५९. वसन्त की वर्षा	(बूसोन्) ...	१०५
६०. ताल	(बाशो) ...	१०६
६१. पुराना नगर	(बाशो) ...	१०७
६२. मछली	(राइज़ान) ...	१०८
६३. विरहिणी	(किगिन्) ...	१०९
६४. झिलमिल	(हाइकू से प्रभावित)	११०
६५. फूल फिर	(मोरिटाके) ...	१११
६६. झिल्ली-रव	(बाशो) ...	११२
६७. सूनी साँझ	(शोहा) ...	११३
६८. डार	(टो सेइ) ...	११४
६९. शरत्पूर्णिमा	(रांसेत्सू) ...	११५
७०. क्वाँर का भोर	(काकेइ, बाशो)	११६
७१. जाड़ों का चाँद	(जो सो) ...	११७
७२. तीन चित्र	(बाशो) ...	११८
७३. बोझ	(किकाकू) ...	११९
७४. प्यार	(याहा) ...	१२०
७५. डेरौने पर कौआ	(हाइकू से प्रभावित)	१२१
७६. गरम सोते का स्नान	(रांसेत्सू) ...	१२२
७७. योंनेन का विदा-गीत	...	१२३
७८. रांसेत्सू का मृत्यु-गीत	...	१२४
७९. गीत-रोटी	(आत्सुओ ओकी) ...	१२५

द्वारहीन द्वार

८०. साधना का सत्य	...	१२९
८१. प्राप्ति	...	१३०

८२. एक हवा-सी बार-बार ... १३१
८३. जन्म-दिवस ... १३२
८४. सागर में ऊब-डूब ... १३३
८५. सागर-चित्र ... १३४
८६. सागर पर भोर ... १३५
८७. सागर पर साँझ ... १३६
८८. सागर-तट : सन्ध्या-तारा ... १३६
८९. मैंने देखा, एक बूँद ... १४०
९०. हवाई अड्डे पर विदा ... १४१
९१. रात और दिन ... १४२
९२. रात-भर आते रहे सपने ... १४४
९३. सपने का सच ... १४५
९४. चाँदनी चुप-चाप ... १४६
९५. जागरण-क्षण ... १४७
९६. मोह-बन्ध ... १४८
९७. यह मुकुर ... १४९
९८. वह क्या लक्ष्य ... १५०
९९. द्वारहीन द्वार ... १५१
१००. घाट-घाट का पानी ... १५२
१०१. न दो प्यार ... १५३
१०२. हिरोशिमा ... १५४
१०३. रात कटी ... १५६
१०४. पगली आलोक किरण ... १५८
१०५. तू-मैं ... १५९
१०६. दाता और भिखारी ... १६०
१०७. मानव अकेला ... १६१
१०८. जब-जब ... १६२
१०९. ब्राह्म-मुहूर्त : स्वस्तिवाचन ... १६३
११०. वहाँ पर बच जाय जो ... १६५
१११. टेर रहा सागर ... १६७

भूमिका

प्रस्तुत संग्रहकी अधिसंख्य कविताएँ इससे पूर्व अप्रकाशित हैं। इसका कारण यह भी रहा है कि जिस काल-खण्डकी ये कविताएँ हैं उसमें मैं अधिकतर प्रवासी रहा, और यह भी कि प्रकाशनके लिए उपयुक्त माध्यमकी कमी रही। जो लिखकर फिर छपाया भी गया, उसके बारेमें दीन अथवा याचक भाव दरसाना लेखकको पाखंड-विनय ही जान पड़ता है; पर उसका यह चाहना अनुचित नहीं है कि उसकी रचना वहाँ छपे जहाँ उसके छपनेसे उसे तृप्ति, सन्तोष या कृतार्थताका बोध हो। ऐसा 'वहाँ' हिन्दीमें कहाँ है, इसका एक-आध उत्तर तो हो सकता है, पर कहाँ-कहाँ है इसकी गिनती करने चलनेपर एक हाथकी उँगलियोंसे आगे बढ़ना कदाचित् कठिन होगा। यों पत्र-पत्रिकाएँ अनेक हैं, उनके प्रति लेखक कृतज्ञता-का भी अनुभव करता है और अपने कर्त्तव्यका भी·····

एक कविता (संख्या २०, 'ऋतुराज') पुरानी है—कोई पन्द्रह वर्ष पहलेकी।

इन कविताओंको किन-किन कोटियोंमें बाँटा जा सकता है, इसके बारेमें कुछ कहकर समीक्षककी सहायता करना (या उसे चिढ़ाना) लेखकको अभीष्ट नहीं; पर कुछ कविताओंको अलग उल्लिखित करना आवश्यक है। क्रम-सूचीमें संख्या ५३–७६, जो 'एक चीड़ का ख़ाका' नामक खंडके अन्तर्गत हैं, जापानी कविताओं-के अनुवाद हैं। मूल कविके नाम कविताके अन्तमें दिये गये हैं। जहाँ ये अनुवाद न होकर केवल छायानुवाद रह गये हैं, वहाँ कारण इस लेखककी मौलिकता नहीं है बल्कि उसकी असमर्थता ही; जापानी भाषा न जाननेसे वह मूल रोमनमें पढ़कर भी उसे समझनेसे वंचित रहा और अंग्रेज़ी अनुवादों,या जापानी बन्धुओं द्वारा की गयी व्याख्याओंपर ही निर्भर रहा। कहीं-कहीं, जहाँ मूलसे अपनी दूरीको लेखक स्वयं स्पष्ट देख सकता था, वहाँ उसने जापानी कविका नामोल्लेख अपने अधिकारसे बाहर मानकर केवल जापानी काव्यका ऋण स्वीकार कर लिया है (संख्या ५३, ५५, ६४, ७५)।

जापान और साधारणतया पूर्वैशियाका ऋण इतना ही नहीं है। जापानके 'ज़ेन' बौद्ध सम्प्रदायकी विचार और साधना-पद्धतियों-का, और तत्सम्बन्धी साहित्य और वृत्तका भी, लेखक आभारी है। प्रत्येक साधना दृष्टि देती है : कलाके सन्दर्भमें किसी भी 'देखने'में कुछ 'न देखना' भी सन्निहित होता है क्योंकि कला-दृष्टि अनिवार्य-तया वृत्तिधर्मा (सेलेक्टिव) है। कला-दृष्टिकी सम्पूर्णता अनेककी विवृतियोंके जोड़का नहीं, एकके सार-भूत तादृशत्वका नाम है। चीन और जापानकी चित्रकला और जापानकी काव्य-कलासे, पश्चिम-के कई कवियोंने नयी दृष्टि पायी। हम भारतवासी, जो केवल 'पूर्व' होनेके नाते 'दूर-पूर्व' और 'पश्चिम' के बीचमें आते हैं, इन देशोंकी कलासे उतने दूर नहीं हैं जितने फ्रांस या जर्मनीके कवि थे। फिर भी हम उनसे नयी दृष्टि पा सकते हैं—उनकी परम्परामें भारतकी जो देन रही, उसीके तदेशीय रूपसे भी। जापानी 'ज़ेन' भारतीय 'ध्यान' का ही रूप है, किन्तु ज़ेनका साहित्य-भंडार आजके भारतीय लेखकके लिए भी कितना स्फूर्तिप्रद है! प्रस्तुत संग्रहमें अनुवादोंको छोड़कर अन्य अनेक कविताओंमें भी पूर्वके (और पश्चिमके भी क्यों नहीं ?) प्रभाव मिलेंगे; लेखक सभीका स्वीकारी है। इतने ही से वह अ-भारतीय या अ-हिन्दी हो गया है, ऐसा न वह मानता है न पूर्व और पश्चिमके प्रभाव देने वाले (यदि वे इस संग्रहको पढ़ सकते!) मानते। हिन्दीके प्राध्यापन-रत आलोचक ऐसा कहते आये हैं और अब स्वयं लेखककी स्वीकारोक्तिका प्रमाण भी दे सकेंगे, इस सम्भावनासे वह आशंकित नहीं है। बन्द घरमें प्रकाश पूर्व या पश्चिम या किसी भी निश्चित दिशासे आता है—पर खुले आकाशमें वह सभी ओरसे समाया रहता है, इसीमें उसका आकाशत्व है। उसी खुले आकाशको अपनी बाहोंमें भर सके, यह लेखकका स्वप्न रहा है; घरोंके मामलेमें तो वह यायावर ही है।

—'अज्ञेय'

गुरुस्थानीया बउदि को

—हाँ, विस्मय विभोर
सब जैसे हैं, मैं भी हूँ :
किन्तु जानता हूँ रहस्य मैं अन्तरतम में
धरणी शुभदा, भरणी है, पर यह प्रणाम मेरा
है तुम को, केवल तुम को—

रोपयित्री

•

अच्छा खंडित सत्य

अच्छा
खंडित सत्य
सुघर नीरन्ध्र मृषा से,
अच्छा
पीडित प्यार सहिष्णु
अकम्पित निर्ममता से ।

अच्छी कुण्ठा-रहित इकाई
साँचे-ढले समाज से,
अच्छा
अपना ठाठ फकीरी
मँगनी के सुख-साज से।

अच्छा
सार्थक मौन
व्यर्थ के श्रवण-मधुर भी छन्द से।
अच्छा
निर्धन दानी का उघड़ा उर्वर दुख
धनी सूम के बंझर धुआँ-घुटे आनन्द से।

अच्छे
अनुभव की भट्टी में तपे हुए कण-दो कण
अन्तर्दृष्टि के,
झूठे नुस्खे वाद, रूढ़ि, उपलब्धि परायी के प्रकाश से
रूप-शिव, रूप-सत्य की सृष्टि के।

हम कृती नहीं हैं

हम कृती नहीं हैं
कृतिकारों के अनुयायी भी नहीं कदाचित् ।
क्या हों, विकल्प इस का हम करें, हमें कब
इस विलास का योग मिला ?—जो
हों, इतने भर को ही
भरसक तपते-जलते रहे—रह गये ?
हम हुए, यही बस,
नामहीन हम, निर्विशेष्य,
कुछ हम ने किया नहीं ।

या केवल
मानव होने की पीड़ा का एक नया स्तर खोला :
नया रन्ध्र इस रुँधे दर्द की भी दिवार में फोड़ा :
उस से फूटा जो आलोक, उसे
—छितरा जाने से पहले—
निर्निमेष आँखों से देखा
निर्मम मानस से पहचाना
नाम दिया ।

चाहे
तकने में आँखें फूट जायें,
चाहे

अर्थ-भार से तन कर भाषा की झिल्ली फट जाये,
चाहे
परिचिति को गहरे उकेरते
संवेदन का प्याला टूट जाय :
देखा
पहचाना
नाम दिया ।

कृती नहीं हैं :
हों, बस इतने भर को हम
आजीवन तपते-जलते रहे—रह गये ।

●

शब्द और सत्य

यह नहीं कि मैंने सत्य नहीं पाया था
यह नहीं कि मुझ को शब्द अचानक कभी-कभी मिलता है :
दोनों जब-तब सम्मुख आते ही रहते हैं।
प्रश्न यही रहता है :
दोनों जो अपने बीच एक दीवार बनाये रहते हैं
मैं कब, कैसे, उन के अनदेखे
उस में सेंध लगा दूँ
या भर कर विस्फोटक
उसे उड़ा दूँ।

कवि जो होंगे हों, जो कुछ करते हैं करें,
प्रयोजन मेरा बस इतना है—
ये दोनों जो
सदा एक-दूसरे से तन कर रहते हैं,
कब, कैसे, किस आलोक-स्फुरण में
इन्हें मिला दूँ—
दोनों जो हैं बन्धु, सखा, चिर सहचर मेरे।

•

•

नया कवि : आत्म-स्वीकार

किसी का सत्य था,
मैंने सन्दर्भ में जोड़ दिया।
कोई मधु-कोष काट लाया था,
मैंने निचोड़ लिया।

किसी की उक्ति में गरिमा थी
मैंने उसे थोड़ा-सा सँवार दिया,
किसी की संवेदना में आग का-सा ताप था
मैं ने दूर हटते-हटते उसे धिक्कार दिया।

कोई हुनरमन्द था :
मैंने देखा और कहा, 'यों !'
थका भारवाही पाया—
घुड़का या कोंच दिया, 'क्यों ?'

किसी की पौध थी,
मैंने सींची और बढ़ने पर अपना ली,
किसी की लगायी लता थी,
मैंने दो बल्ली गाड़ उसी पर छवा ली।

किसी की कली थी
मैंने अनदेखे में बीन ली,
किसी की बात थी
मैंने मुँह से छीन ली ।

यों मैं कवि हूँ, आधुनिक हूँ, नया हूँ :
काव्य-तत्त्व की खोज में कहाँ नहीं गया हूँ ?
चाहता हूँ आप मुझे
एक-एक शब्द पर सराहते हुए पढ़ें ।
पर प्रतिमा—अरे, वह तो
जैसी आप को रुचे आप स्वयं गढ़ें !

•

•

बड़ी लम्बी राह

न देखो लौट कर पीछे :
वहाँ कुछ नहीं दीखेगा
न कुछ है देखने को
उन लकीरों के सिवा, जो राह चलते
हमारे ही चेहरों पर लिख गयीं
अनुभूति के तेज़ाब से ।

राह चलते ।
बड़ी लम्बी राह ।

गा रही थी एक दिन
उस छोर बेपरवाह,
लोभनीय, सुहावनी, रूमानियत की चाह
—अवगुण्ठनमयी ठगिनी !—
एक मीठी रागिनी ।

बड़ी लम्बी राह ।
आज सँकरे मोड़ पर यह
वास्तविक की वस्तुवादी
धारदार विडम्बना
रो रही है :
एक नंगी डाकिनी ।

बड़ी लम्बी राह, आह,
पनाह इस पर नहीं--
कोई ठौर जिस पर छाँह हो।
कौन आँके मोल उस के शोध का
मूल्य के भी मूल्य की जो थाह पाने
एक मरु-सागर उलीच रहा अकेला ?
जल जहाँ है नहीं
क्या वह अब्धि है ?
रेत क्या
उपलब्धि है ?

बड़ी लम्बी राह। जब उस ओर
थे हम, एक ही संवेदना की डोर
बाँधती थी हमें–तुम को : और हम-तुम मानते थे
डोरियाँ कच्ची भले हों, सूत क्योंकि
पुनीत है, उन से बँधे
सरकार आयेंगे चले।

बड़ी लम्बी राह ! अब इस ओर पर
संवेदना की आरियाँ ही
मुझे तुम से काटती हैं :
और फिर लोहू-सनी उन धारियों में
और राहों की अथक ललकार है।
और वे सरकार ? कितनी बार हम-तुम और जायेंगे छले !

बड़ी लम्बी राह :
आँख-कोरों से लगा कर
ओठ के नीचे-मुड़े कोने तलक, तेज़ाब-आँकी
एक बाँकी रेख :
नहीं जिस से अधिक लम्बी, अमिट या कि अमोघ
विधि की लेख ।

न देखो लौट कर पीछे
भृकुटि मत कसो,
मत दो ओट चेहरे को,
चोट से मत बचो ;
अनुभव डँसे ;
न पूछो और कौन पड़ाव अब कब आयगा ?
तेज़ाब जब चुक जायगा—
थम जायेंगे सब यन्त्र ; कारोबार
अपने-आप सब रुक जायगा !

नये कवि से

आ, तू आ,
हाँ, आ,
मेरे पैरों की छाप-छाप पर रखता पैर,
मिटाता उसे,
मुझे मुँह भर-भर गाली देता—
आ, तू आ।

तेरा कहना है ठीक : जिधर मैं चला
नहीं वह पथ था :
मेरा आग्रह भी नहीं रहा मैं चलूँ उसी पर
सदा जिसे पथ कहा गया, जो
इतने-इतने पैरों द्वारा रौंदा जाता रहा कि उस पर
कोई छाप नहीं पहचानी जा सकती थी।

मेरी खोज
नहीं थी उस मिट्टी की
जिस को जब चाहूँ मैं रौंदूँ : मेरी आँखें
उलझी थीं उस तेजोमय प्रभा-पुंज से
जिस से झरता कण-कण उस मिट्टी को
कर देता था कभी स्वर्ण तो कभी शस्य,
कभी जीव तो कभी जीव्य,
अनुक्षण नव-नव अंकुर-स्फोटित, नव-रूपायित।

मैं कभी न बन सका करुण, सदा
करुणा के उस अजस्र
सोते की ओर दौड़ता रहा जहाँ से
सब कुछ होता जाता था प्रतिपल
आलोकित,
रंजित,
दीप्त, हिरण्मय,
रहस्य-वेष्टित,
प्रभा-गर्भ,
जीवनमय ।

मैं चला, उड़ा, भटका, रेंगा, फिसला,
—(क्या नाम क्रिया के उस की
आत्यन्तिक गति को कर सके निरूपित ?)—
तू जो भी कह—आक्रोश नहीं मुझ को,
मैं रुका नहीं मुड़ कर पीछे तकने को,
क्योंकि अभी भी मुझे सामने दीख रहा है
वह प्रकाश : अभी भी
मरी नहीं है ज्योति टेरती इन आँखों की ।

तू आ,
तू देख कि यह पैरों की छाप पड़ी है जहाँ,
कहीं वह
है सूना फैलाव रेत का जिस में
कोई प्यासा मर सकता है :
बीहड़ झारखंड है कहीं, कँटीली

जिस की खोहों में कोई बरसों तक चाहे भटक जाय,
कहीं मेंड़ है किसी परायी खेती की, मुड़ कर ही
जिस के अगल-बगल से कोई गलियारा पा लेना होगा ।
कहीं—कुछ नहीं, चिकनी काली रपटन जिस के नीचे
एक कुलबुलाती दलदल है
झाग-भरा मुँह बाये, घात लगाये ।

किन्तु प्यास से मरा नहीं मैं,
गलियारे भी
चाहे जैसे मुझे मिले :
दलदल में भी मैं
डूबा नहीं ।

पर आ तू,
सभी कहीं, सब चिह्न रौदता
अपने से आगे जाने वाले के
आ, तू आ,
रखता पैरों पर पैर,
गालियाँ देता,
ठोकर मार मिटाता अनगढ़
(और अवांछित रखे गये !) इन
मर्यादा-चिह्नों को
आ, तू आ ।

आ तू,
दर्पस्फीत जयी !
मेरी तो •

तुझे पीठ ही दीखेगी—क्या करूँ कि मैं आगे हूँ
और देखता भी आगे की ओर ?
पाँवड़े
मैंने नहीं बिछाये—वे तो तभी, वहीं
बिछ सकते हैं प्रशस्त हो मार्ग जहाँ पर ।
आता जा तू,
कहता जा जो जी आवे :

मैं चला नहीं था पथ पर,
पर मैं चला इसी से
तुझ को बीहड़ में भी ये पद-चिह्न मिले हैं,
काँटों पर ये एकोन्मुख संकेत लहू के,
बालू की यह लिखत, मिटाने में ही
जिस को फिर से तू लिख देगा ।

आ तू, आ,
हाँ, आ,
मेरे पैरों की छाप-छाप पर रखता पैर,
जयी, युगनेता, पथ-प्रवर्त्तक,
आ तू आ—
ओ गतानुगामी !

●

प्याला : सतहें

जीवन !
वह जगमग
एक काँच का प्याला था
जिस में मद-भरमाये हमने
भर रक्खा
तीखा भभके-खिंचा उजाला था ।
कौंध उसी की से
वह फूट गया ।

उस में जो रस था (मद ?)
मिट्टी में रिस
वह धीरे-धीरे सूख गया—

पर रस की प्यास नहीं सूखी ।

इस लिए हृदय में गाला हमने एक कुआँ ।

रस से लेंगे मन सींच !
काँच-प्याले के टुकड़े से लाये उलीच
जो, आँख मीच
हम पीने लगे—
विषैला कड़ुआ धुआँ !

यों बाद हृदय के
मन भी टूट गया ।

जीवन ! वह अब भी है ।
विकिरित प्रकाश की किरणें
रंग-विरंगी
अनथक नाच रहीं कच-टुकड़े के
हर स्तर पर ।

हम बार-बार गहरे उतरे—
कितना गहरे !—पर
जब-जब जो कुछ भी लाये
उस से बस
और सतह पर भीड़ बढ़ गयी ।

सतहें—सतहें—
सब फेंक रहीं हैं लौट-लौट
वह कौंध
जिसे हम भर न रख सके
प्याले में :

छिछली उथली घनी चौंध से अन्ध
घूमते हैं हम
अपने रचे हुए
मायावी उजियाले में ।

गहरे में—कुछ इतना सूना जो
भिद कर भी लौटा ही देता है प्रकाश :
सतहों पर—टूटी चमकीली सतहों को बाँध-बाँध
उलझाने वाला
सतहों का ही जटिल पाश !

सतहें—कच-टुकड़े :
यही जुटा पाये हम ;
भीतर
किरण रही जो
वह
नीलाम चढ़ गयी !

इशारे ज़िन्दगी के

ज़िन्दगी हर मोड़ पर करती रही हम को इशारे
जिन्हें हमने नहीं देखा ।
क्योंकि हम बाँधे हुए थे पट्टियाँ संस्कार की
और—हमने बाँधने से पूर्व देखा था !—
हमारी पट्टियाँ रंगीन थीं ।

ज़िन्दगी करती रही नीरव इशारे :
हम धनी थे शब्द के ।
'शब्द ईश्वर है, इसी से वह रहस् है,'
'शब्द अपने आप में इति है,'—
हमें यह मोह अब छलता नहीं था ।
शब्द-रत्नों की लड़ी हम गूँथ कर माला पिन्हाना चाहते थे
नये रूपाकार को,
और हमने यही जाना था
कि रूपाकार ही तो सार है ।

एक नीरव नदी बहती जा रही थी,
बुलबुले उस में उमड़ते थे
रहःसंकेत के :
हर उमड़ने पर हमें रोमांच होता था,
फूटना हर बुलबुले का हमें तीखा दर्द देता था ।
रोमांच ! तीखा दर्द !
नीरव रहःसंकेत—हाय !

३

ज़िन्दगी करती रही
नीरव इशारे,
हम पकड़ते रहे रूपाकार को ।
किन्तु रूपाकार
चोला है
किसी संकेत शब्दातीत का,
जिन्दगी के किसी
गहरे इशारे का ।

शब्द :
रूपाकार :
फिर संकेत—
ये हर मोड़ पर बिखरे हुए संकेत—
अनगिनती इशारे ज़िन्दगी के
ओट में जिन की छिपा है
अर्थ !
हाय, कितने मोह की कितनी दिवारें भेदने को—
पूर्व इस के, शब्द ललके,
अंक भेंटे अर्थ को ।
क्या हमारे हाथ में वह मन्त्र होगा, हम इन्हें सम्पृक्त कर दें ?

अर्थ दो, अर्थ दो ।
मत हमें रूपाकार इतने व्यर्थ दो !
हम समझते हैं इशारा ज़िन्दगी का—
हमें पार उतार दो—
रूप मत, बस सार दो ।

मुखर वाणी हुई : बोलने हम लगे :
हम को बोध था वे शब्द सुन्दर हैं—
सत्य भी हैं, सारमय हैं ।
पर हमारे शब्द
जनता के नहीं थे
क्योंकि जो उन्मेष हम में हुआ
जनता का नहीं था
हमारा दर्द
जनता का नहीं था
संवेदना ने ही विलग कर दी
हमारी अनुभूति हम से ।
यह जो लीक हम को मिली थी --
अन्धी गली थी ।

चुक गयी क्या राह ? लिख दें हम
चरम लिखतम् पराजय की ?
इशारे क्या चुक गये हैं
ज़िन्दगी के अभिनयांकुर में ?

बढ़े चाहे बोझ जितना
शास्त्र का, इतिहास का,
रूढ़ि के विन्यास का या सूक्त का—
कम नहीं ललकार होती जिन्दगी की ।

मोड़ आगे और है—
कौन उस की ओट, देखो, झाँकता है ?

●

एक प्रश्न

क्या घृणा की एक झौंसी साँस भी
छू लेगी तुम्हारा गात—
प्यार की हवाएँ सोंधी
यों ही बह जायेंगी ?

एक सूखे पत्ते की ही खड़-खड़
बाँधेगी तुम्हारा ध्यान—
लाख-लाख कोंपलों की मृदुल गुँजारें
अनसुनी रह जायेंगी ?

चौखटे की दीमक का
उद्यम अनवरत देख तुम
खिड़की से बाहर न झाँकोगे;

पक्षियों की बीठों का क्या
उपयोग होगा, इसी चिन्ता में
जमीन को कुरेदते—
ऊपर का मुक्त—मुक्त—मुक्त
आकाश नहीं ताकोगे ?

●

लौटे यात्री का वक्तव्य

सभी जगह
जो उपजाता है अन्न, पालता सब को,
उस की झुकी कमर है ।

सभी जगह
जो शास्ता है, जो बागडोर थामे है, उस की दीठ मन्द है—
आँखों पर है चढ़ा हुआ मोटा चश्मा जो
प्रायः धूमिल भी होता है ।

सभी जगह
जिस की मुट्ठी में ताकत है
उस का भेजा है एक ओर भेड़िये,
दूसरी पर मर्कट का ।

सभी जगह
जो रंग-बिरंगो जाज़म पर फैला कर सपनों की मनियारी
घात लगाते हैं गाहक की,
दिल मुर्गी का रखते हैं ।

सभी जगह
जो मूल्यवान् है सकुचा रहता है; अदृश्य, सीपी के मोती-सा,
जो मिलता नहीं बिना सागर में डूबे ·

सभी जगह
जो छिछला है, ओछा है,
नकली कीमख़ाब पर सजा हुआ बैठा है लकदक,
चौंधाता आँखों को, जब तक ठोकर लगे, पैर रपटे
या जेब कटे, नीयत बिगड़े, हो मतिभ्रंश, दिल डँसा जाय।

सभी जगह
है प्रश्न एक :
क्या दोगे ? कितना दे सकते हो ?

यही पूछते हैं जो फिर भेदक आँखों से
लेते हैं टटोल अंटी में क्या है :
यही दूसरे पूछ, नाप लेते हैं कितना
लहू देह में बाकी होगा :
यही तीसरे, आँक रहे जो
मांस-पेशियों में कितना है श्रम-बल—
(बिना छुए या टोये जैसे चूज़े को गाहक टोता है।)

यही और जो तिनकों को सिखलाते
बँधी हुई गड्डी की ताकत, किन्तु बाँधने वाला तार
सदा अपनी मुट्ठी में रखते हैं :
यही और, जिन की लोलुपता
देने का आमन्त्रण सब को देती है,
क्योंकि सिवा इस देने के बस उन को लेना ही लेना है।

और यही वे भी, जिन की जिज्ञासा
कभी नहीं होती रूपायित, मुखरित,
जो अनासक्त हैं, जिन्हें स्वयं कुछ नहीं किसी से लेना है :
क्या दोगे ? कितना दोगे—दे सकते हो—
मुझे नहीं, जग भर को, जीवन-भर को,
प्यार ?

•

चेहरे असंख्य : आँखे असंख्य

चेहरे थे असंख्य,
आँखे थीं,
दर्द सभी में था—
जीवन का दंश सभी ने जाना था।
पर दो
केवल दो
मेरे मन में कौंध गयीं।

क्यों ?
क्या उन में अतिरिक्त दर्द था
जो अतीत में मेरा परिचित कभी रहा,
या मुझ में कोई छायास्मृति जागी थी
जिस को मैंने उन आँखों में पढ़ा
कि जैसे सदा दूसरों में हम
जाने-अनजाने केवल
अपने ही को पढ़ते हैं ?

मैं नहीं जानता किस की वे आँखें थीं,
नहीं समझता फिर उन को देखूँगा
(परिचय मन ही मन चाहा हो, उद्यम कोई नहीं किया),
किन्तु उसी की कौंध

मुझे फिर-फिर दिखलाती है
चेहरे असंख्य,
आँखें असंख्य,
जिन सब में दर्द भरा है
पर जिन को मैं पहले नहीं देख पाया था ।
वही अपरिचित दो आँखें ही
चिर-माध्यम हैं
सब आँखों से, सब दर्दों से
मेरे चिर-परिचय का ।

●

हरा-भरा है देश

हरे-भरे हैं खेत
मगर खलिहान नहीं :
बहुत महतो का मान—
मगर दो मुट्ठी धान नहीं ।

भरा है दिल
पर नीयत नहीं :
हरी है कोख—
तबीयत नहीं ।

भरी हैं आँखें
पेट नहीं :
भरे हैं बनिये के कागज़—
टेंट नहीं ।

हरा-भरा है देश :
रुँधा मिट्टी में ताप
पोसता है विष-वट का मूल—
फलेंगे जिस में शाप ।

मरा क्या और मरे
इस लिए अगर जिये तो क्या :
जिसे पीने को पानी नहीं

लहू का घूँट पिये तो क्या;
पकेगा फल, चखना होगा
उन्हीं को जो जीते हैं आज :
जिन्हें है बहुत शील का ज्ञान—
नहीं है लाज ।

तपी मिट्टी जो सोख न ले
अरे, क्या है इतना पानी ?
कि व्यर्थ है उद्बोधन, आह्वान—
व्यर्थ कवि की बानी ?

बाँगर और खादर

बाँगर में
राजाजी का बाग है,
चारों ओर दीवार है
जिस में एक द्वार है,
बीच-बाग कुआँ है
बहुत-बहुत गहरा।
और उस का जल
मीठा, निर्मल, शीतल।
कुएँ तो राजाजी के और भी हैं
—एक चौगान में, एक बाजार में—
पर इस पर रहता है पहरा।

खादर में
राजाजी के पुरवे हैं,
मिट्टी के घरवे हैं,
आगे खुली रेती के पार
सदानीरा नदी है।
गाँवों के गँवार
उसी में नहाते हैं,
कपड़े फींचते हैं,
आचमन करते हैं,
डाँगर भँसाते हैं;

उसी से पानी उलीच
पहलेज सींचते हैं,
और जो मर जायें उन की मिट्टी भी
वहीं होनी बदी है।

कुएँ का पानी
राजाजी मँगाते हैं,
शौक से पीते हैं।
नदी पर लोग सब जाते हैं,
उस के किनारे मरते हैं
उस के सहारे जीते हैं।

बाँगर का कुआँ
राजाजी का अपना है,
लोक-जन के लिए एक
कहानी है, सपना है।

खादर की नदी नहीं
किसी की बपौती की,
पुरवे के हर घरवे को
गंगा है अपनी कठौती की।

औद्योगिक बस्ती

पहाड़ियों से घिरी हुई इस छोटी सी-घाटी में
ये मुँहझौंसी चिमनियाँ बराबर
धुआँ उगलती जाती हैं।

भीतर जलते लाल धातु के साथ
कमकरों की दुस्साध्य विषमताएँ भी
तप्त उबलती जाती हैं।

बँधी लीक पर रेलें लादे माल
चिहुँकती और रँभाती अफराये डाँगर-सी
ठिलती चलती जाती हैं।

उद्यम की कड़ी-कड़ी में बँधते जाते मुक्तिकाम
मानव की आशाएँ ही पल-पल
उस को छलती जाती हैं।

●

बिकाऊ

खोयी आँखें लौटीं :
धर मिट्टी का लोंदा
रचने लगा कुम्हार खिलौने ।

मूर्ति पहली यह
कितनी सुन्दर ! और दूसरी—
अरे रूपदर्शी ! यह क्या है—
यह विरूप विद्रूप डरौना ?

"मूर्तियाँ ही हैं दोनों,
दोनों रूप : जगह दोनों की बनी हुई है ।
मेले में दोनों जावेंगी ।
यह भी बिकाऊ है,
वह भी बिकाऊ है ।

"टिकाऊ—हाँ, टिकाऊ
यह नहीं है,
वह भी नहीं है,
मगर टिकाऊ तो
मैं भी नहीं हूँ—
तुम भी नहीं हो ।"

रुका वह एक क्षण,
आँखें फिर खोयीं, फिर लौटीं,
फिर बोला वह :
"होती बड़े दुःख की कहानी यह
अन्त में अगर मैं
यह भी न कह सकता, कि
टिकाऊ तो
जिस पैसे पर यह-वह दोनों बिकाऊ हैं
(और हम-तुम भी क्या नहीं हैं ?)
वह भी नहीं है :
बल्कि वही तो
असली बिकाऊ है।"

मैंने कहा, पेड़—

मैंने कहा, "पेड़, तुम इतने बड़े हो,
इतने कड़े हो,
न जाने कितने सौ बरसों के आँधी-पानी में
सिर ऊँचा किये अपनी जगह अड़े हो।
सूरज उगता-डूबता है, चाँद भरता-छीजता है
ऋतुएँ बदलती हैं, मेघ उमड़ता-पसीजता है;
और तुम सब सहते हुए
सन्तुलित शान्त धीर रहते हुए
विनम्र हरियाली से ढँके, पर भीतर ठोठ कठैठे खड़े हो।"

काँपा पेड़, मर्मरित पत्तियाँ
बोली मानों, "नहीं, नहीं, नहीं, झूठा
श्रेय मुझे मत दो!
मैं तो बार-बार झुकता, गिरता, उखड़ता
या कि सूखा ठूँठ हो के टूट जाता,
श्रेय है तो मेरे पैरों-तले इस मिट्टी को
जिस में न जाने कहाँ मेरी जड़ें खोयी हैं :
ऊपर उठा हूँ उतना ही आकाश में
जितना कि मेरी जड़ें नीचे दूर धरती में समायी हैं।

श्रेय कुछ मेरा नहीं, जो है इस नामहीन मिट्टी का।
और, हाँ, इन सब उगने-डूबने, भरने-छीजने,

४
बदलने, गलने, पसीजने,
बनने-मिटने वालों का भी :
शतियों से मैंने बस एक सीख पायी है :
जो मरण-धर्मा हैं वे ही जीवनदायी हैं।"

●

नया कवि : आत्मोपदेश

शक्ति का मत गर्व कर
तू उपशमन का कर,
नहीं रूपाकार को, उस में
छिपा है सार जो, वह वर !
अनुभूति से मत डर—
मगर पाखण्ड उस के दर्द का मत कर :
नहीं अपने-आप जो स्पन्दन डँसे
तेरी धमनियों को, त्वचा की कँपकँपी से
झूठ मत आभास उस का स्वयं
अपने को दिखाने की
उतावली से भर !

गैर को मत कोंच
तू पहचान अपनापन :
चुनौती है जहाँ
तू अविकल्प साहस कर :
'यहाँ प्रतिरोध दुर्बल है, सुलभ जय', सोच
ऐसा, साहसिक मत बन ।
अभियान में जिन खाइयों में
कूदना है, कूद :
भरा है उन में अँधेरा इस लिए
मत नयन अपने मूँद !

दीठ की मत डींग भर :
जो दिखा उस के बूझने की
तू तपस्या कर :
झाड़ मत पल्ला छुड़ा कर
स्वयं अपने-आप से तू झर ।
प्यास पर तू विजय पा, पर
और जो प्यासे मिलें, उन के लिए
चुपचाप निश्चल स्वच्छ शीतल
प्राण-रस से भर ।

तू उसे देखे न देखे
झर रहा जो अन्तहीन प्रकाश—
उसे माथा झुका कर पी :
तू उसे चीन्हे न चीन्हे
हो रहा जो प्राण-स्पन्दन चतुर्दिक् गतिमान
उस में डूब कर तू जी ।
तू उसे ओढ़े न ओढ़े
व्याप्त मानव-मात्र में है जो विशद अभिप्राय
तू न उस से टूट :
भीड़ का मत हो, डटा रह, मगर
दिग्विद पान्थ के समुदाय से तू
अकेला मत छूट ।

एकाकियों की राह ?
वह भी है
मगर तब जब कि वह
सब के लिए तोड़ी गयी हो ।

अकेला निर्वाण ?
वह भी है
अगर उस की चाह
सभी के कल्याण के हित
स्वेच्छया छोड़ी गयी हो ।

कहाँ जाता है, इसे मत भूल :
कौन आता है, न इस को भी
कभी मन से उतरने दे ।
राह जिस की है उसी की है ।
कगारे काट, पत्थर तोड़,
रोड़ी कूट, तू पथ बना, लेकिन
प्रकट हो जब जिसे आना है
तू चुप-चाप रस्ता छोड़ :
मुदित-मन वार दे दो फूल,
उसे आगे गुज़रने दे ।

●

रोपयित्री

गलियारे से जाते-जाते
उस दिन लख भंगिमा तुम्हारी
और हाथ की मुद्रा,
यही लगा था मुझे
खेत में छिटक रही हो बीज।
किन्तु जब लौटा, देखा
भटके डाँगर
रौंद गये हैं सभी क्यारियाँ।

भूल गया मैं।

आज, अरे ! सहसा पाता हूँ :
अंकुर एक--अनेक--असंख्य--
धरा मानो श्यामल रोमाली के प्रहर्ष से
हो रोमांचित।

हाँ, विस्मय-विभोर
सब जैसे हैं, मैं भी हूँ :
मनोरंग में मेरे भी वह आने वाली
धान-भरी बाली सोनाली
थिरक रही है : मैं भी आँचल
तब पसार दूँगा जब गूँजेगी उस की पद-पायल,

मैं भी लूँगा बीन-छीन
कण-दो कण जो भी हाथ लगेंगे
उस रसवन्ती की पुष्कल करुणा के ।

किन्तु जानता हूँ रहस्य मैं अन्तरतम में :
धरणी सुखदा, शुभदा, वरदा,
भरणी है, पर यह प्रणाम मेरा
है तुम को,
केवल तुम को ।

भूल गयी थी स्मृति—(दुर्बल !)—पर
तुम्हें
मैं नहीं भूला ।

●

रूप-केकी

•

रूप-केकी

रूप-केकी नाचते हैं,
सार-घन ! बरसो ।

बहुत विस्तृत, बहुत सूना
है गगन जिसको नहीं
उन की पुकारें भर सकेंगी,

बहुत है गरिमा धरा की
नहीं उस के कर्ष-बल से आत्म-विभोर भी
उन की उड़ान उबर सकेगी ।

तुम्हीं अपनी दामिनी मायाविनी की
लेखनी अमरत्वदायिनि से
उन्हें परसो ।
सार-घन ! सरसो ।

रूप-केकी नाचते हैं,
सार-घन ! बरसो ।

●

ऋतुराज

शिशिर ने पहन लिया वसन्त का दुकूल,
गन्धवह उड़ रहा पराग-धूल झूल,
काँटों का किरीट धारे बने देवदूत
पीत-वसन दमक उठे तिरस्कृत बबूल।
अरे, ऋतुराज आ गया।

पूछते हैं मेघ, 'क्या वसन्त आ गया ?'
हँस रहा समीर, 'वह छली भुला गया।'
किन्तु मस्त कोंपलें सलज्ज सोचतीं—
'हमें कौन स्नेह-स्पर्श कर जगा गया ?
वही ऋतुराज आ गया।

प्रस्फुटन अभी नहीं लगी हुई है आस—
मुक्त हो चले अशक्त शीत-बद्ध दास।
मुक्त-प्राण, सर्वत्राण चैत्र आ रहा—
अंक भेंटने को तिलमिला उठे पलास।
क्योंकि ऋतुराज आ गया।

सिद्धि नहीं, दौड़ते हैं किन्तु सिद्धिदूत—
वायु चल रही है आज स्निग्ध मन्त्रपूत।
स्तब्ध हैं प्रतीक्षमान दिग्वधूटियाँ—
जीवन-प्रवाह बह रहा है अनाहूत।
क्योंकि ऋतुराज आ गया।

अभी सुन पड़ी नहीं परभृता की कूक,
अभी कहीं कँपी नहीं है चातकी की हूक,
किन्तु क्यों सिहर उठी है रोम-रोम में—
प्यार की, अथक नये दुलार की भी भूख ?
क्योंकि ऋतुराज आ गया ।

आज ऋतुराज आ गया—
अरे ऋतुराज आ गया ।

यह कली

यह कली,
झुटपुट अँधेरे में
पली थी देहात की गली में;
भोली-भली
नगर के राज-पथ, दिपते
प्रकाश में गयी छली।

झरी नहीं, बही कहीं
तो निकली नहीं,
लहर कहाँ ? भँवर फँसी।
काल डँसी,
गयी मली—
यह कली।

●

रात में गाँव

झींगुरों की लोरियाँ
सुला गयी थीं गाँव को,
झोपड़े हिंडोलों-सी झुला रही हैं
धीमे-धीमे
उजली कपासी घूम-डोरियाँ।

धूप

सूप-सूप भर
धूप-कनक
यह सूने नभ में गयी बिखर :
चौंधाया
बीन रहा है
उसे अकेला एक कुरर ।

●

वसन्त

यह क्या पलास की लाल लहकती
आग रही कारण, जो
वनखंडी की हवा हो चली गर्म आज ?

पहाड़ी यात्रा

मेरे घोड़े की टाप
चौखटा जड़ती जाती है
आगे के नदी-व्योम, घाटी-पर्वत के आस-पास :
मैं एक चित्र में
लिखा गया-सा आगे बढ़ता जाता हूँ ।

●

५

पगडंडी

यह पगडंडी
चली लजीली
इधर-उधर, अटपटी चाल से नीचे को, पर
वहाँ पहुँच कर घाटी में--खिलखिला उठी !

कुसुमित उपत्यका ।

●

घनी धुन्ध से छाया

घनी धुन्ध से छाया निकली
क्षण भर में फिर
घनी धुन्ध में गयी चली ।

उस क्षण में मुझ को आलोक मिला,
रस मिला, चिरन्तन दृष्टि मिली ।

पूनो की साँझ

पति-सेवा रत साँझ
उचकता देख पराया चाँद
लला कर ओट हो गयी ।

सान्ध्य तारा

साँझ । बुझता क्षितिज ।
मन की टूट-टूट पछाड़ खाती लहर ।
काली उमड़ती परछाइयाँ ।

तब एक
तारा भर गया आकाश की गहराइयाँ ।

•

एक चित्र

मेघ में खोयी छाया :
पर्वत ।

झुकी डाल से झरा
ओस-सा लघु स्वर :
पंछी ।

मनःक्षितिज पर उदित
शान्त करुणा कल्याणी :
छवि ।

नमित मुदित नीरव
कवि ।

अंगूर-बेल

उलझती बाँह-सी
दुबली लता अंगूर की।
क्षितिज धुँधला।

तीर-सी यह याद
कितनी दूर की।

नदी तट : एक चित्र

नदी की बाँक
गोरी चमक बालू की
विदा की आर्द्र लालिम
मेघ की रेखा :

नीरव बलाका।

●

आँखें–१

दूर से पास बुलातीं
पर समीप आतीं तो आँखें लातीं
कितनी-कितनी दूरियाँ ।

जीवन के हर आमन्त्रण में भरी हुई हैं
उफ़ ! कितनी मजबूरियाँ !

•

आँखें–२

जब पुकारती थीं तब उन में
कितनी हल्की दिखती थीं
अलसायीं परछाइयाँ,
आयीं निकट : उन्हीं आँखों में
डूब गयी गहराइयाँ ।

●

प्यार : व्यक्त

रात मोम-सी बेबस ढलती रही
आस बाती-सी जलती रही;
भोर में सपना ।

दूर कितनी भी सही
तू है अपना ।

प्यार : अव्यक्त

रात-भर घेर-घेर
छाते आते रहे बादर,
मेरे सोते
बरसती रही बरसात,
झरते रहे पात
बनाते-से चादर-गलीचा,
प्रात तक नीचे दब
खो गया सोता ।

यों चुक गयी जाने कब
अनकही सब बात ।

●

चिड़िया की कहानी

उड़ गयी चिड़िया
काँपी, फिर
थिर
हो गयी पत्ती।

चुप-चाप

चुप-चाप चुप-चाप
झरने का स्वर
हम में भर जाय,
चुप-चाप चुप-चाप
शरद की चाँदनी
झील की लहरों पर तिर आय,
चुप-चाप चुप-चाप
जीवन का रहस्य,
जो कहा न जाय, हमारी
ठहरी आँखों में गहराय,
चुप-चाप चुप-चाप
हम पुलकित विराट् में डूबें
पर विराट् हम में मिल जाय—

चुप-चाप चुप-चाऽऽप···

सुख-क्षण

यह दुस्सह सुख-क्षण
मिला अचानक हमें
अतर्कित।
तभी गया तो छोड़ गया
यह दर्द अकथ्य, अकल्पित।

रंग-विरंगी मेघ-पताकाओं से
घिर आया नभ सारा :
नीरव टूट गिरा गया जलता
एक अकेला तारा।

क्या हमीं रहे ?

रूप रूप रूप :
हम पिघले
विवश बहे ।

तब उसने जो सब रिक्तों में भरा हुआ है
अपने भेद कहे ।

सत्य अनावृत के वे
जिसने वार सहे,
क्या हमीं रहे ?

●

हे अमिताभ

हे अमिताभ !
नभ पूरित आलोक,
सुख से, सुरुचि से, रूप से, भरे ओक :
हे अवलोकित
हे हिरण्यनाभ !

धरा-व्योम

अंकुरित धरा से क्षमा
व्योम से झरी रुपहली करुणा ।

सरि, सागर, सोते-निर्झर-सा
उमड़े जीवन :
कहीं नहीं है मरना ।

●

सोन-मछली

हम निहारते रूप,
काँच के पीछे
हाँप रही है मछली ।

रूप-तृषा भी
(और काँच के पीछे)
है जिजीविषा ।

दीप पत्थर का

दीप पत्थर का
लजीली किरण की
पद-चाप नीरव :
अरी ओ करुणा प्रभामय !
कब ? कब ?

●

साम्राज्ञी का नैवेद्य-दान*

हे महाबुद्ध !
मैं मन्दिर में आयी हूँ
रीते हाथ :
फूल मैं ला न सकी ।

औरों का संग्रह
तेरे योग्य न होता ।

जो मुझे सुनाती
जीवन के विह्वल सुख-क्षण का गीत—
खोलती रूप-जगत् के द्वार जहाँ
तेरी करुणा
बुनती रहती है
भव के सपनों, क्षण के आनन्दों के
रहःसूत्र अविराम—
उस भोली मुग्धा को
कँपती
डाली से विलगा न सकी ।

---

* जापान की साम्राज्ञी कोमियो प्राचीन राजधानी नारा के बुद्ध-मन्दिर में जाते समय असमंजस में पड़ गयी थीं कि चढ़ाने को क्या ले जावें और फिर रीते हाथ गयी थीं । यही घटना कविता का आधार है ।

जो भी सुख
जिस भी डाली पर
हुआ पल्लवित, पुलकित,
मैं उसे वहीं पर
अक्षत, अनाघ्रात, अस्पृष्ट, अनाविल,
हे महाबुद्ध !
अर्पित करती हूँ तुझे ।

वहीं-वहीं प्रत्येक भरे प्याला जीवन का,
वहीं-वहीं नैवेद्य चढ़ा
अपने सुन्दर आनन्द-निमिष का,
तेरा हो,
हे विगतागत के, वर्तमान के, पद्मकोश !
हे महाबुद्ध ।

खिड़की एकाएक खुली

खिड़की एकाएक खुली,
बुझ गया दीप झोंके से,
हो गया बन्द वह ग्रन्थ
जिसे हम रात-रात
घोखते रहे;

पर खुला क्षितिज, पौ फटी,
प्रात निकला सूरज, जो सारे
अन्धकार को सोख गया।

धरती प्रकाश-आप्लावित!
हम मुक्त-कण्ठ
मुक्त-हृदय
मुग्ध गा उठे
बिना मौन को भंग किये।

कौन हम?
उसी सूर्य के दूत
अनवरत धावित।

●

पहेली

गुरु ने छीन लिया हाथों से जाल,
शिष्य से बोले :
"कहाँ चला ले जाल अभी ?
पहले मछलियाँ पकड़ तो ला ?"
तकता रह गया बिचारा
भौंचक ।

बीत गये युग । चले गये गुरु ।
बूढ़ा, धवल-केश, कुंचित-मुख
चेला
सोच रहा था अभी प्रश्न :
'क्यों चला जाल ले ?
पहले, रे, मछलियाँ पकड़ तो ला ?'

सहसा भेद गयी तीखी आलोक-किरण ।
'अरे, कब से बेचारी मछली
घिर अगाध से
सागर खोज रही है !'

मैं देख रहा हूँ

मैं देख रहा हूँ
झरी फूल से पँखुरी
—मैं देख रहा हूँ अपने को ही झरते।

मैं चुप हूँ :
वह मेरे भीतर वसन्त गाता है।

●

मछलियाँ

न जाने मछलियाँ हैं या नहीं
आँखें तुम्हारी
किन्तु मेरी दीप्त जीवन-चेतना निश्चय नदी है
हर लहर की ओट जिस की
उन्हीं की गति
काँपती-सी
जी रही है
पिरोती-सी रश्मियाँ
हर बूँद में ।

•

उन्मत्त

सूँघ ली है साँस भर-भर
गन्ध मैंने इस निरन्तर
खुले जाते क्षितिज के उल्लास की,

खा गया हूँ नदी-तट की
लहरती बिछलन जिसे सौ बार
धो-धो कर गयी है अंजली वातास की,

पी गया हूँ अधिक कुछ मैं
स्निग्ध सहलाती हुई-सी
धूप यह हेमन्त की,

आज मुझ को चढ़ गयी है
यह अथाह अकूल अपलक
नीलिमा आकाश की।

मत छुओ, रोको, पुकारो मत मुझे,
जहाँ मैं हूँ वहाँ से मत उतारो—
मुझे कुछ मत कहो।
—मगर हाँ, काँपे अगर डग तो
तुम्हीं, ओ तुम, तुम्हीं-तुम रहो
जो हाथ मेरा गहो।

●

जीवन-छाया

पुल पर झुका खड़ा है देख रहा हूँ
अपनी परछाहीं
सोते के निर्मल जल पर—
तल पर, भीतर,
नीचे पथरीले-रेतीले थल पर :
अरे, उसे ये पल-पल
भेद-भेद जाती हैं
कितनी उज्ज्वल
रंगारंग मछलियाँ !

रश्मि-बाण

"ओ अधीर पथ-यात्री
क्यों तुम
यहाँ सेतु पर आ कर
ठिठक गये !

"नयी नहीं है नदी, इसी के साथ-साथ
तुम चलते आये
जाने मेरे अनजाने कितने दिन से !
नया नहीं है सेतु, पार तुम
जाने इससे कितनी बार गये हो
इसी उषा के इसी रंग के
इतने कोमल, इतने ही उज्वल प्रकाश में ।
ठिठक गये क्यों
यहाँ सेतु पर आ कर
ओ अब तक अधीर पथ-यात्री ?"

"मैं ? मैं ठिठका नहीं ।
देखना मेरा
दृष्टि-मार्ग से
कितना गहरे चलते जाना है
किस अन्तहीन अज्ञात दिशा में !

यहाँ सेतु से नीचे
देख रहा हूँ मैं केवल अपनी छाया को
किन्तु दौड़ते,
पल-पल बदल रहे
लहरीले
जीते जल पर !"

"देख रहे हो छाया ?
छाया को !
अपनी को !
क्यों तब मुड़ कर भीतर को
अपने को नहीं देखते ?
रुकना भी तब नहीं पड़ेगा :
जल बहता हो—बहता जाये—
सेतु हो न हो—
दिन हो, रजनी,
उषःकाल, दोपहरी हो, आँधी-कुहरा हो,
झुका मेघडम्बर हो या हो तारों-टँका चँदोवा—
तुम्हें न रुकना होगा
किसी मोड़ पर, चौराहे पर,
किसी सेतु पर !
क्यों तुम, ओ पथ-यात्री,
ठिठक गये ?"

"मुझे नदी से, पथ से
या कि सेतु से,
अपनी गति से, रति से, या कि स्वयं अपने से,

अपनी छाया,
छाया से अपनी संगति से
कोई नहीं लगाव-दुराव । क्योंकि ये कोई
लक्ष्य नहीं मेरी यात्रा के ।
चौंक गया हूँ मैं क्षण-भर को
क्योंकि अभी इस क्षण मैंने
कुछ देख लिया है ।

"अभी-अभी जो
उजली मछली
भेद गयी है
सेतु पर खड़े मेरी छाया—
(चली गयी है कहाँ !)
वही तो—
वही, वही तो
लक्ष्य रही अवचेतन, अनपहचाना
मेरी इस यात्रा का !

"खड़ा सेतु पर हूँ मैं,
देख रहा हूँ अपनी छाया,
मुझे बोध है नदी वहाँ नीचे बहती है
गहरी, वेगवती, प्लव-शीला ।
ताल उसी की अविरल
लहरों की गति पर देता है प्रति-पल
स्पन्दन यह मेरी धमनी का
और चेतना को आलोकित
किये हुए है
असम्पृक्त यह सहज स्निग्ध वरदान धूप का !

"सब में हूँ मैं, सब मुझ में है,
सब से गुँथा हुआ हूँ, पर जो
बींध गया है सत्य मुझे वह
वह उजली मछली है
भेद गयी जो मेरी
बहुत-बहुत पहचानी
बहुत-बहुत अपनी यह
बहुत पुरानी छाया ।

"रुका नहीं कुछ,
सब कुछ चलता ही जाता है,
रुका नहीं हूँ मैं भी, खड़ा सेतु पर :
देखो–देखो–देखो—
फिर आयी वह रश्मि-बाण, दामिनि-द्रुत !–देखो—
बेध रहा है मुझे लक्ष्य मेरे बाणों का !"

•

एक चींड़ का खाका

•

जापानी चित्र

मन्दिर दिखता नहीं, मूर्ति होगी भी, नहीं भरोसा ।
किन्तु मेघ के पार गगन को चूम रहा है
रंजित तोरण ।*

•

* जापानी मुक्तक 'हाइकू' से प्रभावित ।

शिशिर-वसन्त

शिशिर की वर्षा :
चाँद मेघ की मुट्ठी में
छिपता नहीं ।

बिजली उजली हिम-चादर पर
दिपती है ।

पहले अधीर अहेरी
माँज रहे हैं तीर
भोर के अँधेरे में ।

सिहरा है समीर :
वह पीछे वसन्त आता है ।*

●

* प्रथम छन्द टोकोकू पर आधारित; दूसरा जूगो, तीसरा यासुई, चौथा बाशो पर । जापानी 'रेंगा' (शृङ्खलित पद्य) की पद्धति पर ।

अरी हवा, अब

झीना चाँद
डाल पर कोंपल :
अरी हवा, अब तू वसन्त को
साथ झुलाती कब लायेगी ?*

●

* 'हाइकू' से प्रभावित ।

सरसों फूली

गरवीली हरियाली ने
गिरि-शृंग छोड़
सब धरती छा ली ।

उगता चाँद, डूबता सूरज,
बीच झील-सी
पीली सरसों फूली ।

[बूसोन्]

•

अलूचे फूले

और कहीं भी क्या वसन्त आया है–
या कि अलूचे ही ये
हैं बौराये ?

[रोटो]

●

वसन्त का सूर्यास्त

सरसों की समवेत दीप्ति के
सागर में सूरज इक्ला
डूब गया।

[टांटान्]

●

वसन्त की वर्षा

वर्षा में वसन्त की मैंने देखा :
छाता एक, एक बरसाती
साथ-साथ जाते, बतियाते ।

[चूसोन्]

•

ताल

ताल पुराना
कूदा दादुर :
—गुडुप्।

[बाशो]

●

पुराना नगर

मौन पुराना नगर : साँझ :
घंटा-ध्वनि की लहरों पर तिरती
सुमन-गन्ध ।

[बाशो]

मछली

उजली मछली
मानो पानी का अन्तरंग ही
काँप गया हो ।

[राइज़ान्]

●

विरहिणी

"दुबली ? हाँ गर्मी जो थी—"
इतना कह पायी
पर फिर सकी न रोक रुलाई ।

[किंगिन्]

•

झिलमिल

झिलमिल के आर-पार
दो परछाइयाँ
बोली नहीं :

लेती रहीं बार-बार
बस अँगड़ाइयाँ, जमुहाइयाँ ।*

●

* 'हाइकू' से प्रभावित ।

फूल फिर

झर चुका फूल फिर
उड़ा डाल की ओर—अरे !
तितली ।

[मोरिटाके]

•

झिल्ली-रव

झिल्ली का अविरत उल्लास
देता है संकेत कहीं क्या उसे—
मृत्यु है कितनी पास ?

[बाशो]

•

सूनी साँझ

लम्बी पीली धूप :
डरौने की पसरी परछाहीं
नाप रही सूनी पगडण्डी ।

[शोहा]

•

डार

डार कूँजों की
बादल चीर गया :
यों साथी बिछुड़ चले ।

[टो सेइ]

•

शरत्पूर्णिमा

चाँद चितेरा
आँक रहा है शारद नभ में
एक चीड़ का ख़ाका ।

[रांसेत्सू]

•

क्वाँर का भोर

क्वाँर का भोर :
अनमनी कतार में खड़ी
डार सारसों की ।

बड़ा करुण
अरुणोदय ।*

●

* प्रथम छन्द काकेह, दूसरा छन्द बाशो द्वारा रचित ।

जाड़ों का चाँद

जाड़ों का चाँद
पके बालों पर :
इस से भी क्या ठंडा होगा पाला ?

[जो सो]

तीन चित्र

सूखी डाली पर
काक एक एकाकी :
रात पतझर की ।

इतना सन्नाटा—
झनकारें झिल्ली की
झारखण्ड में डूब गयीं ।

रात : सागर अँधियारा ।
पुकार जल-पंछी की
धुँधली उजली ।

[बाशो]

बोझ

मेरी टोपी पर
बोझ बर्फ़ का हल्का है--
मेरा जो है ।

[किकाकू]

●

प्यार

प्यार बिल्ले में जागा :
हाय अभागा—
आगे से ही रोना शुरू हुआ ।

[याहा]

•

डरौने पर कौआ

खेत में एक डरौने पर
बैठा है डरा हुआ कौआ :
पूस की हवा कटखनी बहती है ।*

●

* 'हाइकू' से प्रभावित ।

गरम सोते का स्नान

ताते पानी के सोते में
न्हाने का सुख :
जाते पानी को धोता है
आता पानी ।

[रांसेल्स्]

•

योनेन्* का विदा-गीत

चाँदनी के गीत मैंने बहुत गाये :
और वह गाया नहीं जाता ।
अब सुनो निर्वात रजनी में
अचंचल चीड़-वन में
गूँजता निःशब्द
सन्नाटा ।

●

* योनेन्—उन्नीसवीं शती की एक रूपवती जापानी कवयित्री जिसने दीक्षा लेने के लिए स्वयं तपे लोहे से अपना चेहरा झुलसा लिया क्योंकि ज़ेन गुरु सुन्दरी को शिष्या नहीं स्वीकार करते थे। छयासठ वर्ष की आयु में, मृत्यु निकट जान कर उसने एक छोटी कविता लिखी थी।

रांसेत्सु का मृत्यु-गीत*

एक झरा पत्ता :
फिर एक दूसरा और झरा ।
फिर एक—हाय !

•

* 'हाइकू' पद्धति के जापानी कवि मृत्यु से पहले एक अन्तिम हाइकू रचा करते थे, जो मृत्यु-गीत माना जाता था । रांसेत्सू के मृत्यु-गीत का भाव लिया गया है ।

गीत : रोटी

एक हाथ से तोड़ रहा हूँ रोटी
गीत दूसरे से लिखता जाता हूँ ।

गीत फाड़ फेंके :
रोटी रह गयी हाथ में ।

[आत्सुओ ओर्की]

●

द्वारहीन द्वार

•

६

साधना का सत्य

यह जो दिया लिये तुम चले खोजने सत्य, बताओ
क्या प्रबन्ध कर चले
कि जिस बाती का तुम्हें भरोसा
वही जलेगी सदा
अकम्पित, उज्ज्वल एकरूप, निर्धूम ?

●

प्राप्ति

स्वयं पथ-भटका हुआ
खोया हुआ शिशु
जुगनुओं को पकड़ने को दौड़ता है
किलकता है :
'पा गया ! मैं पा गया !'

•

एक हवा-सी बार-बार

जैसे अनाथ शिशु की अरथी को
ले जाते हैं लोग : उठाये गोद, मगर
तीखी पीड़ा के बोध बिना,

वैसे ही एक हवा-सी बार-बार
ढोती स्मृतियों का भार
थकी-सी
मुझ में हो कर बह जाती है।

•

जन्म-दिवस

एक दिन
और दिनों-सा
आयु का एक बरस ले चला गया

सागर में ऊब-डूब

सागर में ऊब-डूब करती खाली बोतल
जाने किस के कब के (और कहाँ पर)
घड़ी-दो घड़ी सुख की साक्षी :

और यह सागर : जिसे नहीं है
देश-काल का ओर-छोर—
नहीं है रूपाकार ।

●

सागर-चित्र

सूने उदधि की लहर
धीर बधिर :
सूने क्षितिज का आत्मलीन आलोक
अधूरा, धूसर, अन्धा :

टकराहट चट्टानों पर
थोथे थप्पड़ की
जल के :

उड़े झाग की चिनियाहट
गालों पर,
आँखों में किरकिरी रेत :

अर्थहीन मँड़राते कई क्रौंच
हकलाते-से जब-तब कराहते हलके ।

यह क्षण : यह चित्र :
दरिद्र ?
अ-मूल ? अमोल ?
विलीयमान ? चिर ?

●

सागर पर भोर

बहुत बड़ा है यह सागर का सूना
बहुत बड़ा यह ऊपर छाया औंधा खोखल।
असमंजस के एक और दिन पर, ओ सूरज,
क्यों, क्यों, क्यों यह तुम उग आये ?

सागर पर साँझ

बहुत देर तक हम चुपचाप
देखा किये सागर को।
फिर कुछ धीरे-से बोला :
"हाँ, लिख लो मन में इस जाती हुई धूप को,
चीड़ों में सरसराती हुई इस हवा को,
लहरों की भोली खिलखिलाहट को :
लिख लो सब मन में—क्योंकि फिर
दिनों तक—(क्या बरसों तक ?)—
इसी सागर पर तुम लिखा करोगे
दर्द की एक रेखा—
बस एक रेखा
जो, हो सकता है, मूर्त्त स्मृति भी नहीं लायेगी—
केवल स्वयं आयेगी :
एक रेखा जिसे
न बदला जा सकता है न मिटाया जा सकता है
न स्वीकार द्वारा ही डुबा दिया जा सकता है
क्योंकि वह दर्द की रेखा है,
और दर्द
स्वीकार से भी मिटता नहीं है···"

लौट हम आये साँझ घिरते-न घिरते।
पर फिर उस सागर-तट पर रात को

ऊगा तारा :
उसी पर छितरायी चन्द्रमा ने चाँदनी
उसी पर नभोवृत्त होता रहा और नीला, अपलक :
ये भी तो लहरों पर कुछ लिखते रहे ?
हमने जो लिखा था
अगर वह दर्द है
तो ये क्या लिखते हैं ?
न सही दर्द उन में,
न सही भावना—
फिर भी, निर्वेद भी,
कुछ तो वे लिखते हैं ?

हाँ !
कि "दर्द है तो ठीक है :
(दर्द स्वीकार से भी मिटता नहीं है,
स्वीकार से पाप मिटते हैं,
पर दर्द पाप नहीं है ।)
दर्द कुछ मैला नहीं,
कुछ असुन्दर, अनिष्ट नहीं,
दर्द की अपनी एक दीप्ति है—
ग्लानि वह नहीं देता ।
तुमने यदि
दर्द ही लिखा है,
भद्दा कुछ नहीं लिखा, झूठा कुछ नहीं लिखा,
तो आश्वस्त रहो :
हम उसे गहरा ही करेंगे, सारमय बनायेंगे,
उस में रंग भरेंगे, रूप अवतरेंगे,

उसे माँज-माँज कर नयी एक आभा देते रहेंगे :
काल भी उसे एक ओप ही देगा और ।
जाओ, वह लिखा हुआ दर्द यहाँ छोड़ जाओ--
तुम्हें वह बार-बार नाना शुभ रूपों में फलेगा ।"

•

सागर-तट : सन्ध्या-तारा

मिटता-मिटता भी मिटा नहीं आलोक,
झलक-सी छोड़ गया
सागर पर ।
वाणी सूनी कह चुकी विदा : आँखों में
दुलराता आलिंगन आया
मौन उतर ।
एक दीर्घ निश्वास :
व्योम में सन्ध्या-तारा
उठा सिहर ।

●

मैंने देखा, एक बूँद

मैंने देखा
एक बूँद सहसा
उछली सागर के झाग से :
रँगी गयी क्षण भर
ढलते सूरज की आग से ।

मुझ को दीख गया :
सूने विराट् के सम्मुख
हर आलोक-छुआ अपनापन
है उन्मोचन
नश्वरता के दाग से !

●

हवाई अड्डे पर विदा

उड़ गया गरजता यन्त्र-गरुड़
बन विन्दु, शून्य में पिघल गया ।

पर साँप ? लोटता डँसता छोड़ गया वह उसे यहीं पर ।

आँखों के आगे धीरे-धीरे सब धुँधला होता आता है—
मैदान, पेड़, पानी, गिरि, घर, जन-संकुल ।

●

रात और दिन

रात बीतती है
घर के शान्त झुटपुटे कोने में—
सब माँगें पंछी-सी डैनों में सिर खोंस
जहाँ पर
अपने ही में खो जाती हैं,
तनी साँस भी
स्वस्ति-भाव से
आ जाती है सहज विलम्बित लय पर।

दिन खुलता है
बड़े शहर के शोर-भरे बीहड़ में बेकल दौड़ रहे
उखड़े लोगों की भीड़ों में—
मोड़-मोड़ पर जिन्हें इश्तहारों के रंग-विरंगे कोड़े
चलता रखते हैं रंगीन सनसनी की तलाश में।

रात अकेले में
झीनी-सी छाया एक खड़ी रहती है सिरहाने,
कहती रहती है शब्द बिना :
"तुम मेरे हो,
मैं कहीं रहूँ, यह मेरा स्नेह कवच-सा तुम्हें ढके रहता है;
मैं कुछ करूँ, मेरे कामों में हम दोनों की
प्रतिश्रुतियों का स्पन्दन है;

मैं कुछ कहूँ, मेरे अन्तस् में अगुरु-धूम-सी
मंगल-आशंसाएँ उठती रहती हैं अविराम,
तुम सोओ, जागो, कर्म करो, हो विरत,
सर्वदा सब में मैं हूँ :
तुम मेरी अग्नि-शिखा हो—
यह देखो मेरी अर्द्धांजलि : यह एक साथ
है उसे बचाती और सौंपती—
और स्निग्ध उस की गरमाई से पुरती भी जाती है।"

दिन के जन-संकुल में
भीड़पने की लहरों के अनवरत थपेड़े
निर्मम दुहराते जाते हैं :
"तुम अपने नहीं, पराये हो,
हम चाहें जितना गले मिलें,
चाहें जितना हम मुसकानों के बिछा पाँवड़े
बरसायें स्वागत-पंखुड़ियाँ,
तुम तुम हो—
अजनबी एक, बेमेल, बिराने।
माला के एक फूल की पंखुड़ियों के भीतर
चिउँटा
फूल-सेज पर सोये पर वह फूल नहीं है,
गुँथा नहीं है माला में—
वैसे ही तुम, अजनबी, पराये हो!"

सुनते थे
रात और दिन मणियाँ हैं जीवन की माला की,
पर कौन जौहरी इतने अनमिल मनके
एक सूत्र में गूँथेगा?

●

रात-भर आते रहे सपने

रात भर आते रहे सपने :
एक भी अच्छा नहीं था ।

किन्तु वास्तव जगत में मुझ को अनेकों बार
सुख मिलता रहा है ।

रात भी जब जगा
शय्या सुखद ही थी ।

यही क्या तब मानना होगा
कि सपने बुरे हैं सो सत्य हैं
और सुख की वास्तविकता
झूठ है ?

१०

सपने का सच

सपने के प्यारे को
तुम्हें दिखाऊँ,
—यों सच को
सुन्दर होने दूँ।

सपने के सुन्दर को
प्यार करूँ,
सब को दिखलाऊँ—
सच होने दूँ।

पर सपने के सच को
किसे दिखाऊँ
जिस से वह सुन्दर हो
और उसे कर सकूँ
प्यार ?

●

चाँदनी चुप-चाप

चाँदनी चुप-चाप सारी रात
सूने आँगन में
जाल रचती रही।
मेरी रूपहीन अभिलाषा
अधूरेपन की मद्धिम
आँच पर तँचती रही।
व्यथा मेरी अनकही
आनन्द की सम्भावना के
मनश्चित्रों से परचती रही।

मैं दम साधे रहा,
मन में अलक्षित
आँधी मचती रही :
प्रात : बस इतना कि मेरी बात
सारी रात
उघड़ कर वासना का
रूप लेने से बचती रही।

जागरण-क्षण

बरसों की मेरी नींद रही ।

बह गया समय की धारा में जो,
कौन मूर्ख उस को वापस माँगे ?
मैं आज जाग कर खोज रहा हूँ
वह क्षण जिस में मैं जागा हूँ ।

•

मोह-बन्ध

हम दोनों
एक बार जो मिले रहे
फिर मिले,
इसे क्या कहूँ :
कि दुनिया इतनी छोटी है—
या इतनी बड़ी ?

हम में जो कौंध गयी थी
एक बार पहचान, उसी में
आज जुड़ी जो नयी कड़ी—
क्या कहूँ इसे :
इतिहास दुबारा घटित नहीं होता, या वह है
पुनःघटित की एक लड़ी ?

बिछुड़ जायँगे फिर हम,
फिर भी
हार आज को नहीं गिनेंगे,
इस को अभी, आज क्या कहूँ :
कि जीवन एक मोह है जो साहस को हर लेता है,
या कि एक साहस, जो काट रहा है
बन्ध मोह के घड़ी-घड़ी ?

●

यह मुकुर

यह मुकुर
दिया था तूने :
आज यह मुझ से टूट गया ।

यों मोह
कि तेरे प्रिय की छवि को
बार-बार मैं देखूँ—
छूट गया ।

जिस दिन
यह मुकुर रचा तेरा,
तेरे हाथों में टूटेगा,

मोह दूसरा पात्र प्यार का
रचने का
उस दिन क्या
तुझ से छूटेगा ?

●

वह क्या लक्ष्य

वह क्या लक्ष्य
जिसे पा कर फिर प्यास रह गयी शेष
बताने की, क्या पाया ?

वह कैसा पथ-दर्शक
जो सारा पथ देख
स्वयं फिर आया
और साथ में—आत्म-तोष से भरा—
मान-चित्र लाया ?

और वह कैसा राही
कहे कि हाँ, ठहरो, चलता हूँ
इस दोपहरी में भी, पर इतना बतला दो,
कितना पैंडा मार
मिलेगी पहली छाया ?

'द्वारहीन द्वार'

द्वार के आगे
और द्वार :
यह नहीं कि कुछ अवश्य
है उन के पार—
किन्तु हर बार
मिलेगा आलोक,
झरेगी रस-धार ।

•

घाट-घाट का पानी

होने और न होने की सीमा-रेखा पर सदा बने रहने का
आसिधार-व्रत जिसने ठाना--सहज ठन गया जिस से--
वही जिया। पा गया अर्थ।

बार-बार जो जिये-मरे
यह नहीं कि वे सब
बार-बार तरवार-घाट पर
पीते रहे नये अर्थों का पानी।

अर्थ एक है : मिलता है तो एक बार : (गुड़-सा गूँगे को !)
और उसे दोहराना
दोहरे भ्रम में बह जाना है।

●

११

न दो प्यार

न दो प्यार
खोलो न द्वार
तुम कोई इस अन्धी दिवार में :
पा लूँगा दरार
मैं कोई । हो न सकूँगा पार—
न हो : मैं बीज
उसी में डालूँगा : वह फूटेगा : फिर डार-डार
से उस की झूमेगा फल-भार ।

नहीं तो
और कौन है द्वार
—या प्यार ?

●

हिरोशिमा

एक दिन सहसा
सूरज निकला
अरे क्षितिज पर नहीं,
नगर के चौक :
धूप बरसी
पर अन्तरिक्ष से नहीं,
फटी मिट्टी से ।

छायाएँ मानव-जन की
दिशाहीन
सब ओर पड़ीं—वह सूरज
नहीं उगा था पूरब में, वह
बरसा सहसा
बीचों-बीच नगरके :
काल-सूर्य के रथ के
पहियों के ज्यों अरे टूट कर
बिखर गये हों
दसों दिशा में ।

कुछ क्षण का वह उदय-अस्त !
केवल एक प्रज्वलित क्षण की
दृश्य सोख लेने वाली दोपहरी ।

फिर ?
छायाएँ मानव-जन की
नहीं मिटीं लम्बी हो-हो कर :
मानव ही सब भाप हो गये ।
छायाएँ तो अभी लिखी हैं
झुलसे हुए पत्थरों पर
उजड़ी सड़कों की गच पर ।

मानव का रचा हुआ सूरज
मानव को भाप बना कर सोख गया ।
पत्थर पर लिखी हुई यह
जली हुई छाया
मानव की साखी है ।

●

रात कटी

किसी तरह रात कटी
पौ फटी
मायाविनि छायाओं की
काली नीरन्ध्र यवनिका हटी।

भोर की स्निग्ध बयार जगी,
तृण-बालाओं की मंगल रजत-कलसियों से
कुछ ओस-बूँद झरे,
चिड़ियों ने किया रोर,
आकारों में फिर रंग भरे,
गन्धों के छिपे कोश बिखरे,
दूर की घंटा-ध्वनि वायु-मंडल को कँपाने लगी।

फेंके हुए अखबार की सरहराहट,
पड़ोस के चूल्हों के नये धुओं की चिनिचाहटें,
ग्वाले के कमण्डल की खड़कन,
कलों से बेचैन नये पानी का टपकना,
बच्चों के पैरों की डगमग आहटें,
आलने पर कल के उतारे हुए, मसले, फटे हुए
कुरते का फ़रियादी रूप,
दवा की अधूरी शीशी से सटे हुए

रुई के गाले का चौंधी आँख-सा झपकना,
पिंजरे में सहसा जागे पंछी-सी
अपने दिल की धड़कन :
परिचिति के सहसा सब खुल गये द्वार :
उमड़ने लगा होने का आदि-अन्तहीन पारावार ।

और यह सब इस कारणहीन, अप्रत्याशित,
अनधिकृत, विस्मयकर संयोग से कि
किसी दुःस्वप्न के चंगुल में अचानक रात में
साँस नहीं उलटी !

•

पगली आलोक-किरण

ओ तू पगली आलोक-किरण,
सूअर की खोली के कर्दम पर बार-बार चमकी,
पर साधक की कुटिया को वज्र-अछूता
अन्धकार में छोड़ गयी ?

●

तू-मैं

तू फाड़-फाड़ कर छप्पर चाहे
जिस को-तिस को देता जा
मैं मोती अपने हिय के उन में भरा करूँ ।

तू जहाँ कहीं जी करे
घड़े के घड़े अमृत बरसाया कर
मैं उस की बूँद-बूँद के संचय के हित सौ-सौ बार मरूँ ।

तू सुर-लोकों के द्वार खोल नित नये
राह पर नन्दन-वन कुसुमाता जा—
मैं बार-बार हठ कर के यह, अनन्य यह मानव-लोक वरूँ ।

●

दाता और भिखारी

फूल खिलते रहे चुपचाप :
मंजरी आयी
दबे पाँव, सकुचाती ।

किन्तु मधु-मक्खियाँ, भौंरे
तड़फड़ाते रहे, करते रोर ;
मुँह चिढ़ाते रहे वन की शान्ति को
अविराम अनगिन झींकते झींगुर ।

भिखारी सब
बजाते गाल, बगलें,
फाड़ते आकाश :
सकुचता, सहमता, चुपचाप
पथ से गुज़रता दाता ।

मानव अकेला

भीड़ों में
जब-जब जिस-जिस से आँखें मिलती हैं
वह सहसा दिख जाता है
मानव
अंगारे-सा—भगवान्-सा
अकेला ।

और हमारे सारे लोकाचार
राख की युगों-युगों की परतें हैं ।

●

जब-जब

जब-जब कहता हूँ—
ओः, तुम कितने बदल गये हो !
तब-तब पहचान एक मुझ में जगती है ।
जब-जब दुहराता हूँ :
अब फिर तो ऐसी भूल नहीं हो सकती—
तब-तब यह आस्था ही मुझ को ठगती है ।

क्या कहीं प्यार से इतर
ठौर है कोई
जो इतना दर्द सँभालेगा ?
पर मैं कहता हूँ :
अरे आज पा गया प्यार मैं, वैसा
दर्द नहीं अब मुझ को सालेगा !

●

ब्राह्म-मुहूर्त्त : स्वस्तिवाचन

जियो उस प्यार में
जो मैंने तुम्हें दिया है,
उस दुःख में नहीं जिसे
बेझिझक मैंने पिया है ।

उस गान में जियो
जो मैंने तुम्हें सुनाया है,
उस आह में नहीं जिसे
मैंने तुम से छिपाया है ।

उस द्वार से गुज़रो
जो मैंने तुम्हारे लिए खोला है,
उस अन्धकार से नहीं
जिस की गहराई को
बार-बार मैंने तुम्हारी रक्षा की
भावना से टटोला है ।

वह छादन तुम्हारा घर हो
जिसे मैं असीसों से बुनता हूँ, बुनूँगा;
वे काँटे-गोखरू तो मेरे हैं
जिन्हें मैं राह से चुनता हूँ, चुनूँगा ।

वह पथ तुम्हारा हो
जिसे मैं तुम्हारे हित बनाता हूँ, बनाता रहूँगा;
मैं जो रोड़ा हूँ, उसे हथौड़े से तोड़-तोड़
मैं जो कारीगर हूँ, करीने से
सँवारता-सजाता हूँ, सजाता रहूँगा ।

सागर के किनारे तक
तुम्हें पहुँचाने का
उदार उद्यम ही मेरा हो :
फिर वहाँ जो लहर हो, तारा हो,
सोन-तरी हो, अरुण सवेरा हो,
वह सब, ओ मेरे वर्य !
तुम्हारा हो, तुम्हारा हो, तुम्हारा हो ।

●

वहाँ पर बच जाय जो

जहाँ पर धन
नहीं है राशि वह जिस को समुद
तेरे चरण पर वार दूँ

जहाँ पर तन
नहीं है थाती-मिली वह धूल पावन
जिसे मैं चोले समान उतार दूँ

जहाँ पर मन
नहीं है यज्ञ का दुर्दान्त घोड़ा
जिसे लौटा तुझे दे
मैं समर्थ जयी कहाऊँ

जहाँ पर जन
नहीं है शक्ति का संघट्ट
जिस में डूब कर ही मैं
प्रतिष्ठित व्यक्तित्व पाऊँ

जहाँ पर
अहं भी
—जो अजाना, अछूता औ' उपेक्षावश अलक्षित हो
अनाहत रह गया हो—

नहीं है अन्तिम निजत्व
लुटा जिसे
औदार्य का सन्तोष मेरा हो

—वहाँ पर
बच जाय जो
(वह क्या, मैं नहीं यह जानता, ओ देवता,
तू जान जो सब जानता है)
उसी अन्तिम सर्ग पर बच जाय जो
वही तेरा हो ।

वह जो हो
जो कुछ है वही है
उसी को ले :
मुक्ति मुझ को दे ।

आज पूरे बोध से यह बात
जो मैंने कही है
यही मेरा साक्ष्य है : मैं
प्रतिश्रुत हूँ साथ
तेरे : यह मेरी सही है ।

●

टेर रहा सागर

जब-जब सागर में
मछली तड़पी—
तब-तब हमने उस की गहराई को जाना ।
जब-जब उल्का
गिरा टूट कर—गिरा कहाँ ?—
हमने सूने को अन्तहीन पहचाना ।

जो है, वह है,
रहस्य अज्ञेय यही
'है' ही है अपने-आप :
जो 'होता' है, उस का होना ही
जिसे जानना हम कहते
उस की मर्यादा, माप ।

जो है, वह अन्तहीन
घेरे है उस को जिस में
जो 'होता' है होता है,
जिस में ज्ञान हमारा
अर्थ टोहता, पाता,
बलखाता टटोलता
बढ़ता है, खोता है ।

अर्थ हमारा
जितना है, सागर में नहीं
हमारी मछली में है
सभी दिशा में सागर जिस को घेर रहा है।
हम उसे नहीं,
वह हम को टेर रहा है।